उदभावना भीष्म साहनी विशेषांक संपादक अजेय कुमार , अतिथि संपादक हरियास राय, सितम्बर-अक्तूबर 2016 वर्ष 31 अंक 125, आई. एस. एस. एन. नंबर 2348-6260 दिल्ली

भीष्म साहनी की संपादन कला : 'नई कहानियां' पत्रिका के संदर्भ में

बिपिन तिवारी

कभी-कभी रचनाकार का मूल्यांकन साहित्य की एक या दो विधाओं तक सीमित होकर रह जाता है। भले ही उस रचनाकार ने साहित्य की अधिंकाश विधाओं में सृजन क्यों न किया हो? इस तथ्य को प्रेमचंद से लेकर निराला, मुक्तिबोध, रांगेय राघव, भीष्म साहनी आदि रचनाकारों के मूल्यांकन के संदर्भ में देखा जा सकता है। इसमें रचनाकार की किसी एक विधा की रचना को केंद्र में रखकर उसे उस विधा का श्रेष्ठ रचनाकार, आलोचक साबित कर दिया जाता है। ऐसे में रचनाकार का सम्पूर्ण मूल्यांकन अपेक्षित रह जाता है। जन्म शताब्दी वर्ष में यह आवश्यक हो जाता है कि उस रचनाकार का मूल्यांकन अनेक विधाओं के संदर्भ में किया जाए। भीष्म साहनी इसीतरह के रचनाकार हैं। 'तमस' उपन्यास के कारण भीष्म साहनी को उपन्यासकार के रूप में सबसे अधिक हिंदी साहित्य में स्वीकृत किया गया है, जिसके पीछे कहीं न कहीं गोविंद निहलानी द्वारा निर्मित 'तमस' धारावाहिक की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके साथ कहानीकार भीष्म साहनी, नाटककार भीष्म साहनी को भी हिंदी साहित्य में जाना-समझा गया। उनके द्वारा लिखे गये निबंध, आत्मकथा और बाल साहित्य के साथ एक संपादक भीष्म साहनी की संपादन कला का मूल्यांकन करना अपेक्षित है। भीष्म साहनी ने तीन पत्रिकाओं का संपादन किया है, जिसमें करोल बाग के एक कॉलेज से निकलने वाली पत्रिका 'साहित्यकार'(संपादक मंडल: नरेश मेहता, रामकुमार, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद और मनोहर श्याम जोशी), अफ्रो-एशियाई लेखक संघ की पत्रिका 'लोटस' का संपादन फैज अहमद फैज के साथ किया और तीसरी राजकमल प्रकाशन दिल्ली से निकलने वाली कहानी पत्रिका 'नई कहानियां' थी। यहां सिर्फ 'नई कहानियां' पत्रिका को केंद्र में रखकर भीष्म साहनी की की संपादन कला का मूल्यांकन करने का प्रयास रहेगा।

'नई कहानियां' पत्रिका का संपादन भीष्म साहनी से पहले कहानीकार, संपादक भैरव प्रसाद गुप्त और कमलेश्वर जी जैसे संपादक, रचनाकार कर चुके थे। यह पत्रिका साहित्य में अपनी एक पहचान बना चुकी थी। पत्रिका जिस ऊंचाई पर पहुंच चुकी थी उसे बनाये रखने और नयी ऊंचाइयां देने की जिम्मेदारी अब भीष्म साहनी पर थी। भीष्म साहनी ने 'नई कहानियां' पत्रिका का संपादन मात्र ढाई वर्ष किया। अगस्त 1965 से उन्होंने 'नई कहानियां' पत्रिका का अवैतनिक संपादन शुरू किया और 1967 तक किया। जुलाई 1965 के अंक में भीष्म साहनी जी द्वारा 'नई कहानियां' पत्रिका का संपादन संभालने, कमलेश्वर जी की 'नई कहानियां' पत्रिका से विदाई का उल्लेख 'बिदा और स्वागत' शीर्षक से किया गया है, जिसमें कमलेश्वर जी के छोड़ने का दु:ख है, तो दूसरी तरफ भीष्म साहनी जी द्वारा पत्रिका का 'अवैतनिक संपादन' का

दायित्व संभालने की खुशी भी है। 'यह सूचना देते हुए हमें हर्ष है कि भविष्य में पत्रिका का संपादन ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के हाथों में जा रहा है जो कथा साहित्य के जाने-माने कलाकार हैं, पाठकों और लेखकों में जनप्रिय भी हैं। श्री भीष्म साहनी एक युग से अपनी कलापूर्ण रचनाओं द्वारा हिंदी कथा साहित्य की अभिवृद्धि करते आ रहे हैं। हमें आशा है कि हमारे साथ ही लेखकों और पाठकों का विश्वास और स्नेह उन्हें प्राप्त होगा और 'नई कहानियां' की परंपरा श्री भीष्म साहनी के सम्पादकत्व में अधिकाधिक उन्नत होगी।'[1]

यह केवल सूचना मात्र नहीं है, अपितु इसमें पत्रिका की अपेक्षाएं भी छिपी हुई हैं। भीष्म साहनी के आने के पहले तक नई कहानियां पत्रिका मुख्यतः कहानी प्रकिाशत करने वाली पत्रिका थी। पत्रिका में एक पृष्ठ की संपादकीय 'इत्यादि' शीर्षक से अंत में छपती थी। अगस्त 1965 में जब भीष्म जी ने पत्रिका के संपादन का दायित्व संभाला तो उन्होंने पत्रिका की नीति भी स्पष्ट की-'भविष्य में यदि हम पाठकों के लिए सुरुचिपूर्ण उत्कृष्ट साहित्य प्रस्तुत कर पाते हैं, नई प्रतिभा को खोजने और उदीयमान लेखकों का सहयोग प्राप्त करने में अपना योगदान कर सकते हैं, अपने काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों को आंकते हुए इस पत्रिका के नाम के अनुरूप आज के जीवन में से फूटकर निकलने वाली और आज की भावनाओं से उद्वेलित रचनाएं प्रस्तुत कर सकते हैं, और इस तरह पाठकों की अभिरुचि के परिष्कार में सहायक हो सकते हैं तो हम अपने प्रयासों को चरितार्थ मानेंगे।'[2]

'नई कहानियां' पत्रिका भीष्म साहनी के संपादन में शुरुआती कुछ अंको तक कहानी की ही पत्रिका बनी रही। इसके केंद्र में उनकी संपादकीय दृष्टि है। वह इस पत्रिका को नई रचनाशीलता का मुख-पत्र बनाने के पक्षधर थे जिसका उन्होंने संपादकीय में उल्लेख भी किया है। यदि इस दौर पर नजर डाली जाए तो पता चलता है कि उस दौर में फार्मूलाबद्ध कहानियां बहुत अधिक मात्रा में लिखी गई हैं जिसमें एक ही तरह का यथार्थ अधिकांश कहानियों में व्यक्त हुआ है। ऐसे में साहित्य युग की सही तस्वीर व्यक्त नहीं कर पाता। इस तथ्य को नई कहानी आंदोलन के दौर में लिखी गई कहानियों में देख सकते हैं। वह इसीलिए पत्रिका में किसी भी तरह के हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं करते हैं। इस तथ्य को उन्होंने अपनी आत्मकथा में भी साफतौर से लिखा है।[3]

किसी भी संपादक की संपादन कला का मूल्यांकन दो पैमानों पर किया जा सकता है। एक, उसके द्वारा पत्रिका में शुरू किये गये स्तम्भ और उसके पीछे के उद्देश्यों पर और दूसरा उसकी संपादकीय दृष्टि पर। संपादकीय में कौन सी नई बहसों को में उठाया जा रहा है। इन दो आधारों पर भीष्म साहनी की संपादन कला का मूल्यांकन करने का प्रयास रहेगा।

अगस्त 1965 में पत्रिका संपादन का दायित्व संभालने के साथ ही भीष्म जी 'नई कहानियां' पत्रिका को कहानी की प्रमुख पत्रिका बनाए रखते हुए कुछ नए स्तम्भ शुरू किए। इस अंक में कहानियों के साथ-साथ 60 के बाद की प्रकाशित कहानियों पर 'क्यों और क्यों नहीं' शीर्षक से परिचर्चा आयोजित की गई जिसमें इन्द्रनाथ मदान, देवीशंकर अवस्थी और धनंजय वर्मा ने शिरकत की। यह तीनों उस समय की कथा आलोचना के जाने-माने विद्वान थे। इसके पीछे उनका निहित उद्देश्य था कि

60 के बाद जो कहानियां लिखी गयी हैं, वह आज कहां ठहरती हैं? और उनकी प्रासंगिकता क्या है? यह भी स्पष्ट होना चाहिए। इन्द्रनाथ मदान ने मन्नू भंडारी-'यही सच है', कमलेश्वर-'जो लिखा नहीं जाता', रामकुमार-'एक चेहरा', मोहन राकेश-'एक और जिंदगी', निर्मल वर्मा-'लंदन की एक रात', कहानीकारों की कहानियों को लेकर विवेचन किया। वहीं, देवीशंकर अवस्थी ने महेन्द्र भल्ला-'एक पति के नोट्स'(नई कहानियां, सितंबर,1964), धर्मवीर भारती-'यह मेरे लिए नहीं'(नई कहानियां, नवंबर, 1964) कहानी को आधार बनाकर विवेचन किया जबकि धनंजय वर्मा ने अमरकांत-असमर्थ हिलता हाथ(नई कहानियां 1964), गुलशेर खां शानी-'एक कमरे का घर'(नई कहानियां, मई,1965), देवेन गुप्त-'अजनबी समय की गति'(नई कहानियां, 1964), ज्ञानरंजन-'फेंस के इधर-उधर'(नई कहानियां, जुलाई और दिसंबर, 1964), दूधनाथ सिंह-'आइसबर्ग'(नई कहानियां, अप्रैल, 1964), धर्मवीर भारती-'यह मेरे लिए नहीं...'(नई कहानियां, नवंबर, 1964) आदि के आधार पर विवेचन किया।

अक्टूबर 1965 में पत्रिका में भीष्म साहनी का नाम 'सौजन्य संपादक' के रूप में जाने लगा जिसके लिए उन्हें तीन सौ रुपये मानदेय के रूप में दिये गये जो बाद में पांच सौ हो गये। 'नई कहानियां' पत्रिका में अक्टूबर 1965 में बलराज साहनी का 'गैर जजबाती' स्तम्भ शुरु हुआ। नवंबर 1965 में 'जिंदगी का रंगमंच' स्तम्भ और एक रचनाकार का साक्षात्कार प्रकाशित करने की शुरुआत की गई। वहीं दिसंबर 1965 में पत्रिका में संपादकीय 'इत्यादि' की जगह 'संपादक की ओर से' शीर्षक से लिखी जाने लगी। मई 1966 में 'उलझी-सुलझी' और 'आज के लेखक की समस्याएं' स्तम्भ प्रांरभ किया गया। 'आज के लेखक की समस्याएं' स्तम्भ में छः अंको में उपेन्द्रनाथ अश्क जी ने धारावाहिक लेख लिखे। इसके साथ ही इसी अंक से नई किताबों के बारे में 'आर्थर' नाम से स्तम्भ प्रारंभ किया गया। जून 1966 में 'नवलेखन महायात्रा' स्तम्भ के माध्यम से उस समय के नवोदित लेखकों के साहित्य पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसके बाद पत्रिका के नवंबर 1966 के अंक में 'बुद्धिजीवी और भोगा हुआ यथार्थ', 'विचार मंच-अजनबी ओ अजनबी', 'अभिनंदन', फिल्म समीक्षा स्तम्भों की शुरुआत की गई। 'विविध' स्तम्भ के अंतर्गत साहित्यकारों के पत्र प्रकाशित किये गये। जिसमें चेखव, डी.एच. लारेंस, जार्ज बर्नार्ड शॉ, मैक्सिम गोर्की आदि विश्व साहित्यकारों के पत्र शामिल हैं। इस स्तम्भ में पहले से ही बलराज साहनी की गैर जज्बाती डायरी प्रकाशित हो रही थी। 'बुद्धिजीवी और भोगा हुआ यथार्थ' स्तम्भ की पहली किस्त राजेन्द्र यादव ने 'राजनीति और बुद्धिजीवी' शीर्षक से लिखी। मार्च 1967 में भीष्म जी ने पत्रिका में कुछ और नए स्तम्भ जोड़ने की बात संपादकीय में लिखी-''शीघ्र ही हम पत्रिका में अनेक नये स्तम्भ जोड़ने जा रहे हैं। 'मेरी जिंदगी का पहला मोड़' शीर्षक स्तम्भ के अंतर्गत जीवन के उन निर्णायक क्षणों का ब्योरा मिलेगा जब व्यक्ति जीवन में जाने या अनजाने ऐसे मोड़ काट देता है जिससे उसकी जिंदगी का रुख ही बदल जाता है। लेखकों और पाठकों के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए हमने एक और मंच का आयोजन किया है। इसमें बारी-बारी से अनेक लेखक पाठकों के प्रश्नों का उत्तर देंगे।...एक शब्द फिल्मी स्तम्भ के बारे में। यह स्तम्भ इश्तहारी स्तम्भ नहीं है। कहानी की दुनिया फिल्म की दुनिया से दूर नहीं है, बल्कि कहानियों को ही फिल्मी रूप दिया जाता है। इस स्तम्भ द्वारा हम फिल्मी दुनिया की सरगर्मियों के अलावा उस

प्रयोगशाला में भी झांककर देखने का अवसर पाठकों को देना चाहते हैं, जहां फिल्मी कहानियां तैयार की जाती हैं। इसके अतिरिक्त, इसी स्तम्भ के अंतर्गत हम सुप्रतिष्ठित सिने अभिनेता श्री बलराज साहनी की 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' धारावाहिक रूप में देंगे, जिससे पाठकों को एक सिने अभिनेता की कला के विकास के बारे में जानने का मौका मिलेगा।'[4] 'नई कहानियां' पत्रिका के इन सब स्तम्भों का उल्लेख करने का एक उद्देश्य है, जिससे 'नई कहानियां' पत्रिका भीष्म साहनी के संपादन में किस तरह की सामग्री प्रकाशित कर रही थी, इससे परिचय हो तथा पत्रिका की संपादकीय दृष्टि क्या बदलाव हुआ इसे भी देखा जा सके। भीष्म साहनी की संपादन कला के कारण ही एक खालिस कहानी पत्रिका का फलक बहुत व्यापक हो गया जिसमें कहानी के साथ-साथ अनेक स्तम्भ प्रकाशित हो रहे थे। साहनी जी ने 'नई कहानियां' पत्रिका के कई महत्वपूर्ण विशेषांक भी निकाले जिनमें 'वर्षगांठ विशेषांक', 'परिशिष्ट विशेषांक', 'हास्य-व्यंग्य', 'दीपावली विशेषांक', 'दीपोत्सव विशेषांक' आदि। भीष्म साहनी ने जब पत्रिका का संपादन प्रारंभ किया था तब वह भी इसे कहानी की पत्रिका बनाए रखने के पक्षधर थे परंतु धीरे-धीरे इसमें बदलाव हुआ जिसके कारण नई कहानियां पत्रिका अपने समय की प्रमुख पत्रिका के रूप में प्रसिद्ध हुई। इतने सारे स्तम्भों की योजनाओं और गंभीर संपादकीय के बावजूद भीष्म साहनी को किन्हीं कारणों से पत्रिका का संपादन छोड़ना भी पड़ा। पत्रिका का संपादन छोड़ने से पहले भीष्म जी ने 'नई कहानियां' पत्रिका के पहले संपादक भैरव प्रसाद गुप्त जी से मिलकर नयी योजनाएं बनाई जिसका ब्यौरा आत्मकथा में मौजूद है। ''...उन्होंने पत्रिका को सोद्देश्य और लोकप्रिय बनाने के कुछ जरूरी गुर सुझाए। एक तो यह कि प्रत्येक अंक में दो-तीन कहानियां ज़रूर जाने-माने लेखकों की दिया करो। दो-एक कहानियां उदीयमान लेखकों की भी। यदि तुम सभी कहानियां या अधिकांश कहानियां नए लेखकों की दोगे तो पत्रिका की मांग कम होगी। साहित्य चर्चा जरूर रखो, वाद-विवाद भी बेशक जमकर हो, पुस्तक-समीक्षा, व्यंग्य-लेख, संस्मरण आदि हों। पत्रिका को जीवंत बनाना होगा। मेरे लिए बड़े उपयोगी निर्देश थे। पर मैं पत्रिका में नई जान फूंकने जा ही रहा था कि राजकमल प्रकाशन गृह ने पत्रिका से अपना पिंड छुड़ा लेने का फैसला किया और पत्रिका श्री अमृतराय के हाथों में चली गई।''[5]

इससे पता चलता है कि प्रकाशन गृह किस तरह से साहित्यिक पत्रिकाओं की हत्या करते रहे हैं। भीष्म साहनी पत्रिका को जिस तरह से आगे बढ़ा रहे थे, वह कोई आसान काम नहीं था। पत्रिका में कहानी चयन का उनका तरीका एकदम अलग था वह सैकड़ों कहानियां पढ़ते हुए पत्रिका के लिए छह-आठ कभी-कभार दस-ग्यारह कहानियों को चुनते थे और पत्रिका को किस तरह से ज्यादा लोकप्रिय और पाठक से जोड़ा जाए इसकी योजना भी पत्रिका के स्तम्भों में दिखाई पड़ती है। वह कमलेश्वर जी की तरह ऐसा भी नहीं था कि वह पत्रिका को समय नहीं दे पा रहे थे। भीष्म साहनी जी को 'नई कहानियां' पत्रिका से राजकमल प्रकाशन गृह का अलग करना उसके पीछे कुछ निहित व्यावसायिक उद्देश्य रहे होंगे, नहीं तो कोई दूसरा कारण होता तो उसका पत्रिका में जरूर उल्लेख किया जाता जैसाकि भीष्म साहनी के 'नई कहानियां' पत्रिका के संपादन का दायित्व संभालते समय पत्रिका में 'विदा और स्वागत' शीर्षक से राजकमल प्रकाशन गृह ने कमलेश्वर जी की

व्यस्तता का उल्लेख किया था।[6] आज के दौर में भी कमोबेश यह परंपरा चल रही है। आज अधिकांश प्रकाशन गृहों की अपनी-अपनी पत्रिकाएं हैं जिसमें इसी तरह से संपादक बदलते रहते हैं।

वहीं भीष्म साहनी जी ने पत्रिका की संपादकीय में अलग-अलग तरह की बहसंे खड़ी की। एक तरफ तो वह संपाकीय में कहानी में नए-पुराने, श्लील-अश्लील आदि को लेकर जो पूर्वाग्रह बने हुए थे उस पर बहस खड़ी करते हैं तो दूसरी तरफ वह कुछ ऐसी कहानियां प्रकाशित करते हैं जो एक नए तेवर और एक नए शिल्प की कहानियां थी। संपादन संभालने के साथ ही भीष्म जी ने 'नई कहानियां' पत्रिका को कहानी के विभिन्न आंदोलनों और उसकी विचारधारा से भी दूर रखा। उस समय के विभिन्न कहानी आंदोलनों को यदि गौर से देखा जाए तो यथार्थ को अभिव्यक्त करने के नाम पर जिस तरह की बनावटी कहानियां लिखी गईं उससे कहानी विधा को बहुत नुकसान पहुंचा। भोगा हुआ यथार्थ से लेकर आम आदमी की दुर्दशा को लेकर जितनी कहानियां विभिन्न कहानी आंदोलनों में लिखी गयीं उनमें से कुछ ही अपना स्थान साहित्य में बना पायीं, ऐसे में यथार्थ को किसी आंदोलनों की विचारधारा से देखने के बजाय ज्यादा जरूरी है कि खुली आंखों से देखा जाए। भीष्म साहनी जी 'नई कहानियां' पत्रिका की संपादकीय में इस नीति को स्पष्ट रूप में रखते हैं। 'कहानी आंदोलन के नजारे देखने के बाद, मैंने मन-ही-मन ठान लिया था कि पत्रिका किसी गुट के साथ नहीं जुड़ेगी, न नई कहानी के साथ, न सचेतन कहानी के साथ, न अकहानी और न ही समसामयिक कहानी के साथ। मेरी पत्रिका स्वतंत्र पत्रिका होगी। केवल उत्कृष्ट कहानियां छापना उसका लक्ष्य होगा। वह किसी साहित्यिक लहर का मुखपत्र नहीं बनेगी।'[7]

भीष्म साहनी जी किसी खास खांचे में रची गई कहानियों को प्रकाशित करने के पक्ष में नहीं थे। वह कहानी को विभिन्न तरह के बन्धनों से मुक्त करना चाहते थे, चाहे वह नैतिकता के बंधन हों या शिल्प के बंधन। इस तथ्य को उस समय की बहसों में देखा जा सकता है। नई कहानी के पक्ष-विपक्ष में उस दौर में खूब बहसें हुई और लेख लिखे गये। कमेलश्वर लिखते हैं-''जब मार्कण्डेय ने अग्रज कहानीकारों पर टिप्पणियां लिखना शुरू किया तब उस मिलीजुली नीति के तहत नयी कहानी की मूल धारा को नकारकर ग्रामीण यथार्थ और अजनबी यथार्थ की क्षीण और अतीतजीवी धाराओं को प्रश्रय दिया गया। यहां से कठिन और शिविरबद्धता की शुरुआत हुई। एक ओर किंचित समाजबोध पर भरपूर व्यक्ति-स्वातंत्रय की मांग करने वाला खेमा था, दूसरी ओर पार्टीबद्ध प्रायोजित यथार्थ का शिविर था, तीसरी ओर अजनबी यथार्थ और ग्रामीण यथार्थ के दो विपरीत ध्रुवों को मिला देने वाली आलोचना की जादुई छड़ी थी, चैथी ओर 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का अन्धड़ था, जिसकी सभा-संगोष्ठियों में जैनेन्द्र जी सक्रिय भाग लेने लगे थे, क्योंकि यह आंदोलन प्रगतिशीलता का विरोधी था और उन दिनों प्रगतिशील मूल्यों और विचारधारा की पर्याय थी नई कहानी, जिसके पक्षधर थे-खुद कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव...।''[8] वहीं कुछ कहानीकारों नई कहानी के नयेपन का विरोध किया। तो कुछ कहानीकार नई कहानी में अभिव्यक्त सेक्स-कुंठा को लेकर बहस कर रहे थे। कहानीकार शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं-''आज हिंदी का शायद ही कोई ऐसा कहानीकार हो, जो यह दावा न पेश करता हो कि उसकी कहानियों में जीवन के नये स्पन्दन, नयी भाव-भूमियां, नये स्वर की अभिव्यक्ति दी गई है। किंतु मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि इन दावों की आड़ में या तो अपनी कमजोरी को

छिपाने का प्रयत्न किया गया है या कि हम अपने को इतना सही समझते हैं कि गलती को गलती मानना हमें स्वीकार नहीं है।...''[9] भीष्म साहनी जी इन्ही सब कारणों से पत्रिका को इन सबसे अलग रखते हैं। वह नई कहानी के नयेपन को लेकर ही नहीं बल्कि दूसरे कहानी आंदोलनों से भी कहानी पत्रिका को अलग रखते हैं। इन आंदोलनों की विवेचना से पता चलता है कि इनमें यथार्थ को आंदोलन की विचारधारा के हिसाब से अभिव्यक्त किया गया है, ऐसे में यथार्थ की वह वास्तविक तस्वीर सामने नहीं आ पाई है। भीष्म साहनी वर्तमान संदर्भ में कहानी विधा में जो बदलाव हो रहे हैं, उसे संपादकीय में लिखते हैं-'आज कहानी अपने बहुत से बन्धन तोड़ रही है, सुधारवादी मनोवृत्ति के बंधन, झूठी नैतिकता के बंधन, झूठी भलमनसाहत के बंधन, दुमछल्लों के बंधन, यहां तक कि शैली और शिल्प में गठन के बन्धन भी। एक शब्द में कहें तो कहानी के विकास की प्रमुख प्रवृत्ति स्वच्छंद की ओर है। कहानी नये आयाम ग्रहण कर रही है, अपने विकास के एक नये चरण में प्रवेश कर रही है। वर्तमान कहानी में जीवन को नये कोणों से देखने की, पात्रों की मनःस्थिति में गहरा पैठने की, सामाजिक जीवन की विषमताओं को आंकने की, अभिव्यक्ति के नये-नये रूप को खोज पाने की छटपटाहट है। कहानी में नये-नये प्रयोग उसके विकास के द्योतक हैं, ह्रास के नहीं।'[10]

इस तथ्य को प्रेमचंद के बाद की पूरी कहानी परंपरा पर गौर करने से प्रमाणित भी किया जा सकता है। हर समय के यथार्थ को अभिव्यक्त करने का शिल्प अलग-अलग होता है, जिसके केंद्र में उस समय के समाज की विडंबनाएं, जटिलताएं होती हैं और वैसे भी सृजन प्रक्रिया नियमों के बंधन को स्वीकार नहीं करती। रचनाकार सृजन के माध्यम से समाज की मान्य परंपराओं को न केवल चुनौती देता है अपितु नए मूल्यों की स्थापना भी करता है। भीष्म साहनी इस तथ्य को बहुत गहराई से महसूस करते हैं और उस पर अपना मत भी प्रस्तुत करते हैं।'...सृजन-प्रकिृया पर बंधे-बंधाये नियम लागू नहीं किये जा सकते। कुछ लेखक शैली के परम्परागत ढांचे को न तोड़कर भी उत्कृष्ट साहित्य की रचना कर सकते हैं, यदि वे वर्तमान के प्रति जागरूक हों और अपने को पुराने मानसिक सन्दर्भों तक ही सीमित न रखें। दूसरी ओर कुछ लेखक विद्रोह करते हैं, पुरानी रूढ़ियां तोड़ते हैं, साहित्य-सृजन के लिए नई पटरियां बिछाते हैं। दोनों अन्ततः अपनी साहित्यिक देन से ही पहचाने और आंके जाएंगे। महज इसलिए एक को रद्द नहीं किया जा सकता कि उसने प्रचलित शिल्प को अपनाये रखा है, और दूसरे को केवल इसलिए बेहतर नहीं माना जा सकता कि उसने उसके प्रति विद्रोह किया है।'[11]

दरअसल, सृजन-प्रक्रिया एक मां द्वारा बच्चा पैदा करने की प्रक्रिया की तरह है जिसमें मां कोई नियम नहीं बना सकती, ठीक वैसी ही प्रक्रिया रचनाकर्म में घटती है। रचना का आवेग ही रचना के रूप को निर्धारित कर देता है। इसमें यदि शिल्प में प्रयोग को रचना का उद्देश्य बना लिया जाए तो उससे रचना कमजोर हो जाती है। परंतु इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि रचना में यदि कोई रचनाकार शिल्पगत प्रयोग करता है तो वह कमतर है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। भीष्म साहनी जी संपादकीय में लिखते हैं-'हम कहानी का अबाध सर्वतोमुखी विकास चाहते हैं। रचनात्मक प्रतिभा अपनी अभिव्यक्ति के रूप स्वच्छंद रूप से ढूंढ़े, लेखक खुलकर लिखे। हम न केवल इस बात का स्वागत करते हैं कि कहानी में शैली और शिल्प के नये-नये प्रयोग सामने आयें बल्कि इसका भी कि कहानी जीवन के अभी तक अछूते क्षेत्रों में भी प्रवेश करे।'[12] यानी कहानी में

नवीन प्रयोग कथ्य और शिल्प दोनों में किए जाएं जिससे कहानी का फलक व्यापक हो और शिल्प का भी विकास हो। यदि कहानी को परंपरागत खांचे में ही रचने की जिद रहेगी तो उससे वर्तमान समय के यथार्थ को नहीं रचा जा सकता। इसके साथ ही भीष्म जी कहानी को उन अछूते क्षेत्रों की तरफ भी ले जाना चाहते हैं जहां का यथार्थ अभी कहानी में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। इस संदर्भ में वह एक संपादकीय में विज्ञानाधारित कहानियां न लिखे जाने पर चिंता प्रकट करते हैं-''इस समय हमारे यहां बहुत सी विधाओं का अभाव पाया जाता है, और वह खटकता है: विज्ञानाधारित कहानियां न के बराबर, हास्य-व्यंग्य की कहानियां लगभग न के बराबर, श्रमजीवी जनता के जीवन से संबंधित कहानियां भी यदि मिलती हैं तो थोथी भावुकता में लिपटी हुई।...''[13] यह चिंता साहित्य के गहरे सरोकारों से उपजी है। वह साहित्य में समाज की सभी छवियों को देखना चाहते हैं। विज्ञानाधारित कहानियां एक नये तरह की संवेदना से पाठक को परिचित कराती हैं। इन कहानियों से पाठक के मनोजगत का विस्तार भी होता है। भीष्म जी उन सभी पर सवाल खड़ा करना चाहते हैं जो समाज की संकुचित छवि प्रस्तुत कर रही हैं। वह अभी तक यथार्थ को देखने की सीमित दृष्टि पर और उसे अभिव्यक्त करने के तरीके पर भी सवाल खड़ा करते हैं। उनका तर्क है कि इसके कारण कथानक बहुत कुछ बनावटी हो गया है और जो कथानक अभिव्यक्त हुआ है वह अपने समय से कटा हुआ है। जीवन को यदि नैतिकता के खांचे में रखकर देखा जायेगा तो साहित्य कमजोर हो जायेगा। इसे द्विवेदीयुगीन साहित्य में खासतौर से कविता में देखा जा सकता है। 'हम बरसों तक एक संकुचित नैतिक चैखटे के भीतर से जीवन को आंकते रहे, नतीजा यह निकला कि हमारी रचनाओं के कथानक कृत्रिम या कमजोर बने रहे, चरित्र बिरले ही कभी उभर कर आता। दो भाइयों के अदालती मामलों से कैसे निबटें। कचहरियों-अदालतों में क्या होता है, हाट-बाजार में क्या होता है, राजनीतिक अखाड़ों में कौन से पैंतरे बदले जाते हैं, जीवन के इस पक्ष को गौण मान हम इसकी उपेक्षा करते रहे।'[14] समाज में जो भी कुछ घटित हो रहा है, वह साहित्य में दिखना चाहिए, वैसे भी रचनाकार जीवन के यथार्थ को अलग-अलग कोणों से देखने का पक्षधर होता है। रचनाकार यदि इस धारणा को छोड़कर साहित्य सृजन करेगा तो वह अपने समय की विडंबनाओं से कटा हुआ होगा। वह ऐसा साहित्य होगा जिसमें उस युग की छवि दिखाई नहीं पड़ेगी। यदि साहित्य की परंपरा पर गौर किया जाए तो पता चलता है कि लेखक की पक्षधरता हर दौर में यथार्थ को खोजने में ही रही है। 'लेखक यथार्थ का खोजी है, भले ही मनुष्य के मानस का यथार्थ हो या सामाजिक गतिविधि का-और दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। ठोस वास्तविकता को हीन मान उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।...जीवन का व्यवहार पक्ष हमारी रचनाओं का मुख्य विषय नहीं होता, मुख्य विषय मनुष्य ही होता है। और किसी रचना के बारे में अंतिम निर्णय उसका कला पक्ष ही करता है, जानकारी की गहराई नहीं करती। तथापि कला को पुष्ट और प्रौढ़ बनाने में, रचना को स्वाभाविक और विश्वसनीय कथानक जुटाने में इसका बड़ा हाथ है। जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा न कर लेखक जितना अधिक उसे नजदीक से देखेगा, हमारे साहित्य में उतनी ही अधिक सच्चाई और व्यापकता आयेगी, और इसी के फलस्वरूप साहित्य में अधिक विविधता भी आ पायेगी।...'[15] भीष्म साहनी साहित्य को सीधे मनुष्य के दुःख-दर्द से जोड़ने के पक्षधर थे जिसके कारण ही वह अपनी चिंता संपादकीय में प्रकट करते हैं। मनुष्य समाज के बीच रहता है, समाज उसे रचता है। ऐसे में यदि परिवेश से अलग करके मनुष्य को चित्रित किया जायेगा तो वह एकांगी होगा,

ठीक दूसरी तरफ यह बात भी उतनी ही सही है कि यदि मात्र परिवेश को यथार्थ का पर्याय मानकर चित्रित किया जायेगा तो वह भी एकांगी होगा। साहित्य में रचनाकार जिस दृष्टि और संवेदनात्मक गहराई से यथार्थ को देखता-परखता है, अनुभूत करता है, वैसा ही चित्रण उसके साहित्य में होता है। इसी तथ्य को भीष्म जी ने एक निबंध में कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है-'प्रत्येक लेखक के संवेदन की विशिष्टता उसकी जीवन दृष्टि में होती है और लेखक की रचना को महत्व और सार्थकता भी उसकी जीवन दृष्टि से ही प्राप्त होती है। इसीलिए, लेखक जो कुछ भी लिखता है, उसमें उसकी जीवन दृष्टि लक्षित होती है।'[16] मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कविता के तीन क्षणों की बात की है। पहला किसी घटना को देखना, दसूरा उसका निजी स्तर पर जीना और तीसरा उस अनुभूत यथार्थ को अभिव्यक्त करना। कोई भी रचना इन तीन क्षणों के बीच से अपना रूप ग्रहण करती है। भीष्म साहनी भी साहित्य में इसी तरह की रचना प्रक्रिया की बात कहते हैं। इसके साथ ही वह एक संपादकीय में कहानी में बिम्ब प्रयोग को ही जो कहानीकार सबकुछ मान बैठे थे उनको लक्ष्य करते हुए लिखते हैं-'अनुभव की सच्चाई गौण और बिम्ब, उपमाएं और अभिव्यक्ति के साधन प्राथमिकता ग्रहण करते जा रहे हैं। लेखक की बात समझ में आये, इसे भी गौण माना जाने लगा है। सामान्य, सुशिक्षित पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, ऐसी शिकायत आम सुनने में आ रही है। एक विशेष प्रकार के संवेदन को ही संवेदन और एक विशेष प्रकार की शैली को ही शैली माना जाने लगा है। इसमें कथ्य भी अपने अन्दर का और कहने का ढंग भी अपने अन्दर का। इस प्रवृत्ति के साहित्यिकों के अनुसार जन-जीवन, परिवार, समाज-सम्बन्धी सभी कथानक 'घिसे-पिटे' और 'पुराने' हैं। जिन्दगी को रौंद डालने वाली किसी विकट समस्या की बात करो तो वे मुंह पीट लेते हैं। हंसी-खेल की भी बात करो तो वे नाक-भौंह चढ़ाने लगते हैं, क्योंकि उनकी नजर में ये बातें साहित्यिक नहीं हैं।'[17] भीष्म साहनी साहित्य में शिल्प को प्रमुखता देने के पक्षधर नहीं थे। यह तथ्य उनके पहले उल्लिखित संपादकीय से जुड़ा हुआ है। कहानी में शिल्प का प्रयोग वर्तमान समय की विडंबना को दिखाने के लिए किया जाता है, यदि कहानी में शिल्प प्रयोग को ही प्राथमिक मान लिया जाए तो उससे साहित्य का यथार्थ गायब हो जाता है। कोई भी साहित्य ऐसा नहीं होता कि जिसमें शिल्प को ही यथार्थ का पर्याय मान लिया गया हो। ऐसे में इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचना जरूरी हो जाता है, जिससे साहित्य का उद्देश्य अपनी सार्थकता न खोने पाये। 'शायद कभी कोई ऐसा कालखंड नहीं रहा जब साहित्य सृजन को किसी न किसी उद्देश्य के साथ न जोड़ा जाता रहा हो, भले ही वह सत्य की खोज रहा हो अथवा नैतिक मान्यताओं का प्रचार-प्रसार रहा हो अथवा समाज की किसी व्यवस्था को बदलने की प्रेरणा का रहा हो। समाज में उसकी भूमिका को न भी देखा जाये तो भी, सत्य की खोज के नाते भी साहित्य किसी उद्देश्य से जुड़ता है। सत्य की खोज से बड़ा उद्देश्य क्या होगा?'[18] वह साहित्य को सीधे-सीधे ढंग से प्रस्तुत करने के पक्षधर थे। इसके पीछे उनका उद्देश्य था कहानी में अमूर्त भावों को जिस तरह से प्रस्तुत किया जा रहा था उससे कहानी में एक अमूर्त वातावरण निर्मित होता था जिससे पाठक एक नई उलझन में फंस जाता। साहित्य का उद्देश्य पाठक को समाज की विडंबना की झलक दिखाते हुए उससे निकलने का रास्ता दिखाने का होता है, यदि साहित्य ऐसा नहीं करता तो साहित्य में एक धुंध निर्मित हो जाता है। भीष्म साहनी संपादकीय में लिखते हैं-'साहित्य के क्षेत्र में भी मेरे अनुभव वैसे ही सपाट और सीधे-सादे ही रहे जैसे जीवन में। मैं समझता हूं, अपने से अलग साहित्य नाम की कोई चीज भी नहीं होती।

जैसा मैं हूं, वैसी ही मैं रचनाएं भी रच पाऊंगा। मेरे संस्कार, अनुभव, मेरा व्यक्तित्व, मेरी दृष्टि सभी मिलकर रचना की स्रष्टि करते हैं। इनमें से एक भी झूठी हो तो सारी रचना झूठी पड़ जाती है।...जो रचना मात्र लेखक के मस्तिष्क की उपज हो, वह अक्सर अधमरी रचना होती है, भले ही लेखक शिल्प और शब्दों का लंबा-चैड़ा ताना-बाना बुन रहा हो। लेखक का अपना सत्य जीवन के सत्य से निराला नहीं होता। न ही जीवन का सत्य और लेखक का सत्य दो अलग-अलग सत्य होते हैं। एक ही सत्य होता है और वह जीवन का सत्य होता है। उसी को साहित्य वाणी देता है।'[19] इस तथ्य को भीष्म साहनी के साहित्य पर भी लागू करके देख जा सकता है। उनका साहित्य अपने आस-पास की घटनाओं को केन्द्र बनाकर सरल ढंग से रचा गया है जिसमें किसी तरह की जटिलता नहीं है। वह चाहे उनकी 'चीफ की दावत' कहानी हो या 'तमस' जैसा सांप्रदायिकता पर केंद्रित उपन्यास। जटिलता साहित्य को पाठक से दूर करती है। प्रेमचंद के साहित्य की आम जनता में लोकप्रियता का यह एक खास कारण है। आज प्रेमचंद का साहित्य इसीलिए कालजयी है। उस साहित्य को समझने के लिए किसी गहन वैचारिकी की जरूरत नहीं है और न ही शिल्प के अतिरिक्त ज्ञान की।

इसी बीच साहित्य में पुरानी मान्यताओं को नए दौर में लागू करने या नहीं करने की बात उठी। इस बात पर बहस की जा रही थी कि बहुत से पुराने नैतिक मूल्य और समाज-सम्बन्धी मान्यताएं आज के जीवन पर लागू नहीं होतीं। जाहिर सी बात है कि रचनाकार पुरानी मान्यताओं के नजरिए से अगर आज के दौर को देखेंगे तो जीवन को समझने में गलती करेंगे। लेकिन एक बात अवश्य ध्यान रखने की है कि साहित्य में मानवीयता का भाव हर दौर के साहित्य में दिखाई पड़ता है। वह चाहे किसी भी दौर का साहित्य क्यों न हो। भीष्म साहनी मानते थे कि-'...यदि लेखक आज के जीवन को पुरानी मान्यताओं के चश्में में से देखेगा तो जीवन को समझने और आंकने में भूल कर जायेगा। पर यह कहना कि आधुनिक जीवन पर पुरानी मान्यताएं लागू नहीं होती एक बात है और यह कहना कि आधुनिक जीवन सर्वथा मूल्यहीन है बिल्कुल ही दूसरी बात।...'[20] दरअसल पुराने नैतिकतावादी चैखटे से निकलकर बिना कोई धारणा बनाए, नए दौर को देखना सही बात है, लेकिन जीवन में केवल अराजकता देखना और उस नजरिए से समूची मानवीयता को नकारना गलत बात है। इस तरह साहित्य में काफी हद तक नए दौर को नए दृष्टिकोण से देखने की बात सही हो सकती है। लेकिन पुराने नैतिक मूल्यों और मान्यताओं को पूरी तरह नकारना सही नहीं होगा।'भले ही पुराने नैतिक नियम खोखले होकर ढह गये हों पर मानवीयता खोखली होकर नहीं ढह गई है। मानवीयता साहित्य की आधारशिला पहले भी रही है और आज भी है। साहित्य में मानवीयता को नकारना स्वयं साहित्य को नकारना है।'[21] अनुभव को दरकिनार कर जो साहित्य रचा जाता है, उससे साहित्य में बनावटीपन अधिक आ जाता है। ऐसा साहित्य महज साहित्य में शोध करने वालों, अध्यापकों तक सीमित हो जाता है। यह बात साहित्य के लिए नुकसानदायक है, जो साहित्य सामान्य पाठकों के पल्ले ही न पड़े वह आखिर किस काम का। 'नई कहानियां' पत्रिका की संपादकीय में भीष्म साहनी लेखकों की राजनीति की भी खबर लेते हैं-'लेखकों की राजनीति इतनी विषम होती जा रही है कि लेखक उसी में फंसे रहते हैं, उन सट्टेबाजों की तरह जो दीन-दुनिया को भूल सट्टे के बढ़ते-गिरते दामों पर ही कान

लगाये बैठे रहते हैं। इससे और कुछ भले ही न हुआ हो, साहित्य का आन्तरिक ओज क्षीण हुआ है, और लेखक का दायरा संकुचित हुआ है।'[22]

वहीं साहित्य में श्लील-अश्लील को एक नए संदर्भ में व्याख्यायित करते हैं। यह वह दौर था जब कहानियों में अश्लीलता की बात बहस-मुबाहिसा के केन्द्र में आई। भीष्म साहनी ने संपादकीय में श्लील-अश्लील को युगीन संदर्भों में व्याख्यायित किया। ''श्लील' और अश्लील की परिभाषा वक्त-वक्त पर बदलती रही है, लेकिन सेक्स-चित्रण साहित्य का उद्देश्य कभी भी नहीं रहा। यदि ऐसा होता तो उस साहित्य को सबसे ऊंचा दर्जा दिया जाता जिसे हम बाजारू कहकर फेंकते रहे हैं। सेक्स-चित्रण उत्कृष्ट साहित्य में सदा एक प्रसंग के रूप में ही आया है।'[23] असल में सेक्स के प्रति लोगों का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा बहुत कुछ बदला है। पहले के समय में उसे बुरी नजरों से देखते हुए साहित्य में उससे दूरी बनाए रखी जाती थी, लेकिन धीरे-धीरे साहित्य में उसे जगह मिलती गई। सेक्स का चित्रण साहित्य में कथानक के एक प्रसंग के रूप में होता है तो वह कथानक का अनिवार्य हिस्सा रहता है लेकिन जब सेक्स को ही साहित्य में प्रधान मान लिया जए तो उससे साहित्य की गरिमा समाप्त होती है। वह साहित्य में सेक्स को ठीक वैसा ही महत्व देना चाहते है जैसा कि वह जीवन में शामिल होता है। एक प्रबलतम आवेग के रूप में, पर सेक्स ही जीवन नहीं है। साहित्य में भी इसी रूप में रखना जरूरी है। 'व्यक्तिगत जीवन में सेक्स प्रबलतम आवेग के रूप में आता है, पर मानवीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में सेक्स का महत्व बहुत कुछ कम हो जाता है। आज हमारा साहित्य मानवीय सम्बन्धों से उचटकर वैयक्तिक आवेगों पर केन्द्रित हो रहा है। कुछ मुद्दत पहले जन साधारण का दुख-सुख लेखक को उद्वेलित करता था, आज नहीं करता, वह समझता है कि इससे ऊपर उठ गया है, वास्तव में वह उससे पलायन कर रहा है।'[24] इसी तरह भीष्म साहनी ने मनुष्य के एकाकीपन की समस्या को संपादकीय में रेखांकित किया है। एकाकीपन की प्रवृत्ति वास्तविक जीवन से लेकर साहित्य तक में ठीक नहीं हैं। साहनी जी इन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार कारकों पर बारीक नजर रखते हुए बड़े शहरों की जीवन शैली, कारखानों की कार्यप्रणाली से लेकर सामाजिक-आर्थिक पहलुओं को इंगित करते हुए लिखते हैं कि-'आज के जमाने में मनुष्य अधिक अकेला महसूस करता है, यह ठीक है। बड़े-बड़े कारखानों में काम करने वाला व्यक्ति एक इकाई बनकर रह गया है, अपना महत्व खो बैठा है; बड़े-बड़े शहरों में व्यक्ति भीड़ में खो गया है; विज्ञान के इस युग में अत्यधिक केन्द्रीकरण के कारण सत्ताधारी पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली और जनसाधारण पहले से कहीं अधिक निःसहाय हो गया है। पर जिन सामाजिक-आर्थिक कारणों से ऐसा हुआ है, उन्हें अनिवार्य मान यह साबित करने की कोशिश करना कि मनुष्य सदा ही अकेला रहा है और अकेला रहेगा, एक प्रकार की भाग्यवादिता में ही विश्वास रखता है।'[25] दरअसल कोई भी विश्वास यदि वर्तमान को केन्द्र में रखकर निर्मित कर लिया जाता है और उसे समाज के इतिहास से भी जोड़ दिया जाता है, तब वह तथ्यों की मात्र अनदेखी नहीं होती अपितु उससे मूयांकन की दृष्टि पर भी सवाल खड़ा होता है। भारतीय समाज में अकेलापन का इतिहास नहीं है, यहां सामूहिकता, सामुदायिकता की भावना प्रबल रही है जिसे संयुक्त परिवार की व्यवस्था में देखा जा सकता है। यह बात सही है कि अकेलापन औद्योगीकरण से सबसे अधिक बढ़ा है परंतु यही एकमात्र सच नहीं है। कारखानों में व्यक्ति अपने को

एक इकाई के रूप में महसूस करता है परंतु कारखानों में ही समूची जिंदगी नहीं गुजरती। वह कुछ घंटों के बाद समाज के बीच उठता-बैठता है। ऐसे में एकाकीपन को मुख्य समस्या मान लेना न्यायसंगत नहीं है। वहीं वह साहित्य में मूल्यों में बदलाव के सन्दर्भ में कहते हैं कि कोई भी बदलाव साहित्य की किसी एक खास विधा में नहीं होता। वह लिखते हैं-'बदलते जीवन में साहित्यिक मूल्य बदलते रहते हैं, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता, लेकिन यह कभी नहीं हुआ कि जीवन तो बदले एक जगह और मूल्य बदल जाए दूसरी जगह।'[26] इस तथ्य को यदि किसी एक प्रवृत्ति के सन्दर्भ में रखकर देखा जाए तो पता चलता है कि जिस समय प्रेमचंद ने 'गोदान' लिखा था ठीक उसी समय किसानों की समस्या को लेकर मलयालम में तकषी शिवशंकर पिल्लै ने 'कयर' नाम से उपन्यास लिखा जो बाद मंे हिंदी में 1992 में साहित्य अकादमी से 'रस्सी' नाम से प्रकाशित हुआ। इस तथ्य को कई और भाषाओं के संदर्भ में रखकर भी देखा जा सकता है।

वहीं भीष्म साहनी ने कहानी के गठन, गहनहीनता को लेकर जो सवाल उठ रहे थे उस पर भी अपनी बेबाक राय रखी-'आज नई और पुरानी कहानी की विभाजन रेखाएं खींचते समय गठन को भी एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाने लगा है, मतलब कि अगर कहानी गठनहीन है तो नई है और गठनयुक्त है तो पुरानी है। और इस तरह गठन, आज के सौन्दर्य बोध में कबाब की हड्डी बन गया है। इस परिभाषा के अनुसार गठन बनावटीपन का द्योतक है जिसमें लेखक घटनाओं से जोड़-तोड़ करके कहानी को बनाता है, उसे गढ़ता है, और यह अस्वाभाविक है, कृत्रिम है।'[27] ऐसे में पूरी बहस गठन और गठनहीनता पर केंद्रित होकर रह जाती है। कहानी में कथानक के हिसाब से किस तरह के गठन की आवश्यकता है, यह बात पीछे छूट जाती है। साहनी जी इस तथ्य को बखूबी समझ रहे थे। वह मानते हैं-'गठनहीनता नई कहानी का गुण नहीं है, यह उसके वर्तमान विकास का परिणाम है जिस कहानी में घटना का ताना-बाना नहीं होगा, या जिसमें क्रियाओं के माध्यम से चरित्र-चित्रण नहीं किया जायेगा, वहां पहली तरह का गठन भी असंगत होगा। आज की कहानी मुख्यतः स्थिति प्रधान है, घटना प्रधान नहीं और उसके अनुरूप ही उसका गठन रूप ले रहा है।'[28] कोई भी कहानी या उपन्यास कथानक के हिसाब से अपना रूप निर्धारित करता है। रचना में यदि कथानक के गठन को प्राथमिकता दिया जाने लगता है तब रचना कमजोर हो जाती है। उस दौर में लिखी जाने वाली कहानियों में गठनहीनता एक तरह से उसका गुण नहीं बल्कि यह उसके विकास का परिचायक था। ध्यान देने वाली बात यह है कि जिन कहानियों में घटनाओं का विवरण अथवा ताना-बाना नहीं होगा उसमें गठन भी असंगत नजर आएगा। उस दौर में लिखी गई अधिकांश कहानियां मुख्य रूप से स्थिति प्रधान होती थीं न कि घटना प्रधान। उसी के अनुसार कहानियों का गठन आकार लेता था, लेकिन इस बदलाव को देखते हुए यह कहना कि घटनाओं के ताना-बाना वाली कहानियों के दिन खत्म हो चुके हैं, ठीक नहीं होगा। यह कुछ वैसा ही होगा कि एक तरफ कहानी में प्रयोग की बात करना और दूसरी तरफ एक ही तरह के रूप विधान की वकालत करना।

भीष्म साहनी उस समय लेखक और पाठक के बीच जो खाई गहरी होती जा रही थी, उसके बारे में अपनी चिंता संपादकीय में प्रकट करते हैं। वह इस बात के पक्षधर हैं कि पाठक की अपनी एक सत्ता होती है। कोई भी रचनाकार यदि पाठक की उपेक्षा कर साहित्य सृजन करता है तो वह कालजयी नहीं बन पाता। पाठक की सत्ता का अर्थ है कि साहित्य को पढ़ते हुए

वह उसमें अपनी झलक देखे। यदि ऐसा नहीं होता तब रचना के साथ उसका जुड़ाव नहीं हो पाता। वह इस बात को पूरी संवेदना के साथ उठाते हैं। 'दोनों के बीच खाई तब बनती है जब लेखक की रचना जीवन से कटने लगे, जब पाठक को रचना में अपने जीवन का अक्स न मिले, न ही स्पन्दन; जब साहित्य अत्यधिक अन्तर्मुखी होकर लेखक के अपने मस्तिष्क तक ही सीमित रह जाय, जब व्यक्तिगत दृष्टि और व्यापक दृष्टि का किसी बिन्दु पर मेल ही न बैठता हो। तब न पाठक की यह दुहाई किसी काम की कि वह प्रबुद्ध रहते हुए भी रचनाओं को समझ नहीं पाता, और न लेखक का यह दम्भ किसी काम का कि पाठक की रुचि इतनी परिष्कृत नहीं है कि वह उसकी रचना को समझ सके।'[29] लेकिन इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि वह पाठक को निर्णायक की भूमिका में प्रतिष्ठित करने के पक्ष में हैं। पाठक रचना के आम जन से जुड़े होने का एक आधार जरूर है। कोई भी रचना मात्र बौद्धिक श्रम नहीं होती और न ही उसका उपयोग मात्र साहित्य का अध्ययन करने वालों तक सीमित होता है। ऐसे में यदि पाठक को गौण समझकर रचना की जायेगी तो वह समाज के लिए कम उपयोगी साबित होगी। वहीं वह इस बात को भी मानते हैं कि साहित्य में युग के साथ प्रवृत्तियां बदलती है, ऐसे में कई बार पाठक उनसे जुड़ नहीं पाता। लेकिन जब वही प्रवृत्तियां साहित्य में जड़ जमाने लगती हैं तो उससे पाठक का जुड़ाव हो जाता है। 'हम मानते हैं कि साहित्य में प्रवृत्तियां बदलती रहती हैं, नई प्रवृत्ति शुरू-शुरू में जरूर अनोखी जान पड़ती है और परंपरागत शैली में साहित्य का रस लेने वाले पाठक बहुत जल्दी नई प्रवृत्ति में रचे साहित्य का आनंद नहीं ले पाते। पर ज बवह प्रवृत्ति साहित्य में जड़ भी जमाने लगती है तो वह पाठकों के अपनाये जाने पर ही। जब दरबारी साहित्य से निकलकर साहित्य में सामाजिक प्रवृत्ति प्रबल हुई थी तो प्रेमचंद को पाठकों ने ही अपनाया था।'[30] लेकिन यह बात ध्यान देने की है कि नई प्रवृत्ति के नाम पर भारी भरकम शब्दों का पहाड़ न खड़ा किया जाए। रचना में ज्यादा विद्वता दिखाने के बजाय साधारण तरीके से बात कही जाए तो वह ज्यादा प्रभावी होती है। उसकी पहुंच समाज के बड़े हिस्से तक होती है। अगर ऐसा नहीं होता है तो कुछ लेखक और आलोचक ही उस रचना को समझ सकेंगे। ऐसे में इसका दोष पाठक की समझदारी को नहीं दिया जा सकता। भारी-भरकम शब्दों के साथ रचनाएं लिखने वाले लेखकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अंततः पाठक ही लेखक को कालजयी बनाते हैं। रचना में जिस तरह के यथार्थ को अभिव्यक्त किया जाता है, पाठक का उससे जिस रूप में जुड़ाव होता है, वही रचनाकार का वास्तविक सम्मान है। चंद लेखकों और आलोचकों की सराहना लेखक को बड़ा नहीं बना देती। इस संदर्भ में किसी भी कालजयी रचनाकार के साहित्य को देखा जा सकता है।

इसके साथ ही भीष्म साहनी ने हास्य-व्यंग्य को लेकर एक गंभीर चिंता व्यक्त की है। वह साहित्य में हास्य-व्यंग्य को बहुत ही महत्वपूर्ण मानते हैं।'हम समझते हैं कि हास्य व्यंग्य साहित्य की एक अमूल्य विधा है, जो मनोरंजन के साथ-ही-साथ हमारे सामने सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों, विषमताओं, त्रुटियों, छल-कपट आदि का भण्डाफोड़ करती है।'[31] इसीलिए वह हर अंक में हरिशंकर परसाई के व्यंग्य लेख को 'उलझी-सुलझी' स्तम्भ के अंतर्गत प्रकाशित करते थे। हास्य-व्यंग्य के माध्यम से लेखक युगीन विडंबनाओं की तरफ पाठक का ध्यान आकर्षित ही नहीं करता अपितु उसे उन शक्तियों के प्रति जागरूक भी करता है जो इन विडंबनाओं को जन्म दे रही हैं। प्रेमचंद के साहित्य में हास्य-व्यंग्य का स्वर बहुत अधिक मात्रा

में विद्यमान है। प्रेमचंद के बाद के दौर के साहित्य में भी इस भाव को देखा जा सकता है। इसके साथ ही वह जीवन में एकाकीपन की समस्या को लेकर गंभीर सवाल उठाते हैं। यदि साहित्य में एकाकीपन ही प्रमुख प्रवृत्ति बन जायेगी तो वह समाज के लिए बेहतर नहीं होगा। कोई भी व्यक्ति दुःख-सुख के बीच अपना जीवन जीता है। जीवन में सिर्फ दुःख ही दुःख नहीं होते और न हमेशा सुख ही रहता। ऐसे में यदि रचना में एक ही तरह के भाव की प्रधानता हो जायेगी तो उससे रचना अपने समय का दस्तावेज नहीं बन पायेगी। इसके साथ ही वह साहित्य में व्यक्ति विशेष को केन्द्र बनाकर जो कहानियां लिखी गईं उनको लेकर भी सवाल खड़े करते हैं। साहित्य में यदि व्यक्तिवाद का स्वर प्रभावी होता जायेगा तो साहित्य बदला लेने का जरिया होकर मात्र रह जायेगा। ''किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके लिखी गई कहानी से लेखक को जरूर संतोष मिलता होगा, क्योंकि कहानी के माध्यम से वह ऐसी बातें कह पाता है, जो सामान्य जीवन में वह मुंह पर नहीं ला सकता। जहां जबान रुक जाती है, वहां उसकी कलम नहीं रुकती।...अपना गम और गुस्सा कहानियों के माध्यम से क्यों निकाला जा रहा है? इन रचनाओं की प्रेरणा में साहित्यिक मतभेद रहा हो, ऐसी खुशफहमी किसी को नहीं है। इसके पीछे सामाजिक कारण जरूर हैं।...कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार की कहानियां सजीवता की निशानी हैं। पर हम समझते हैं कि ऐसी रचनाएं तंगनजरी की निशानी हैं, लेखक जिस दायरे में घूम रहे हैं, वह दिन-ब-दिन संकुचित होती जी रही है, और उसमें से वे निकल नहीं पा रहे हैं।''[32] इस परंपरा को आज भी देखा जा सकता है। हिंदी साहित्य में कुछ कहानीकार इसी रूप में आज भी जाने जा रहे हैं। व्यक्ति विशेष का आग्रह करके लिखी गई कहानियों में साहित्यिकता कम, उस व्यक्ति विशेष को लेकर चटकारपन अधिक होता है। ऐसे में कहानी का कहानीपन समाप्त हो जाता है। कहानी व्यक्ति विशेष की नकारात्मक छवि निर्मित करने का माध्यम मात्र बनकर रह जाती है। हिंदी साहित्य में आज भी यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में बनी हुई है।

भीष्म जी साहित्य में मौलिकता के प्रश्न पर भी गंभीर चिंतन प्रकट करते हैं। उस दौर में साहित्य के मूल्यांकन में मौलिकता को केंद्र में रखा जा रहा था, ऐसे में साहित्य का मूल्यांकन कम मौलिकता की खोज अधिक हो रही थी। वह लिखते हैं-'मौलिकता मूलतः लेखक के दृष्टिकोण से संबद्ध होती है, लेखक की शैली बहुत कुछ उसके दृष्टिकोण के अनुरूप ढलती है, उसके दृष्टिकोण को व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम बनती है, इसीलिए किसी लेखक की शैली को उसके दृष्टिकोण से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब हम मौलिकता की मांग करते हैं तो हम मूलतः मौलिक दृष्टिकोण की ही मांग करते हैं। मौलिकता अपने में अलग से कोई चीज नहीं, मात्र गठन और रूप-विन्सास में तो कतई नहीं।'[33] मौलिकता की जो परिभाषा बनी हुई है उसके हिसाब से किसी भी दौर का साहित्य मौलिक नहीं कहा जा सकता। मौलिकता का संबंध रचनाकार की दृष्टि से होता है। यह दृष्टि रचनाकार के सरोकार से गहरे से जुड़ी होती है। उन सरोकारों में उसकी विचारधारा का भी अहम स्थान होता है। ऐसे में मौलिकता को शैली विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता और न ही इस पैमाने पर किसी भी रचनाकार को मौलिक नहीं कहा जा सकता। कोई भी रचनाकार अपने पूर्व की पंरपरा से गहरे से जुड़ा होता है। वह रचे गये साहित्य से प्रभावित होता है। वह इन सबसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए साहित्य रचता है। वह लिखते

हैं-'...मौलिकता प्रत्येक उत्कृष्ट लेखक का विशिष्ट गुण होती है, पर कोई भी लेखक जान-बूझकर मौलिक बनने की कोशिश नहीं करता। वह यह सोचकर लिखने नहीं बैठता कि चलो एक मौलिक बात कह डालूं या यह बात नहीं कहूंगा, क्योंकि यह मौलिक नहीं है। मौलिकता लेखक के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व में निहित होती है, और ज्यों-ज्यों उसका दृष्टिकोण अधिक पैना और कलम ज्यादा मंजती जाती है, यह मौलिकता उसकी रचनाओं में अधिकाधिक झलकने लगती है।'[34] यदि साहित्य में रूप-विन्यास को ही मौलिक मान लिया जाए तो उससे कई समस्याएं भी खड़ी हो जाती हैं। आज जो रचनाकार नए ढंग से साहित्य सृजन कर रहा है वह दस साल बाद अपने आप पुराना हो जायेगा। मौलिकता का सीधा संबंध रचनाकार की जीवनदृष्टि से है जिसके कारण ही उसकी मौलिकता को जांचा-परखा जा सकता है। इस आधार पर मौलिकता उम्र की सीमा के प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करती।

भीष्म साहनी जनवरी 1967 यानी नव-वर्षांक में पत्रिका की नीति फिर से दोहराते हैं-'हम नए-नए प्रयोगों, नवीन प्रवृत्तियों आदि की झलक देना चाहते हैं। नया का अर्थ हमारे लिए आज का संवेदन है। हम नए को मात्र गठन के साथ, रूप-सज्जा अथवा अभिव्यक्ति के साधनों के साथ नहीं जोड़ते। हम न तो कहानीकार की उम्र के आधार पर और न ही कहानी के रूप विधान के आधार पर नये और पुराने के बीच विभाजन रेखाएं खींचते हैं। मानसिक दृष्टि से कोई लेखक सोलहवीं शताब्दी में जी रहा हो तो मात्र बिम्बों की मदद से, शिल्प और शैली की मदद से वह नया लेखक नहीं बन जाएगा। साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां शिल्प के परम्परागत चैखटे को वैसे-का-वैसा कबूलते हुए भी लेखकों ने विश्व-व्यापी महत्व की रचनाएं संसार को दी हैं। पर हम शिल्प के परम्परागत चैखटे के साथ चिपटे हुए भी नहीं हैं। हां, हम उसे नवीनता की एकमात्र कसौटी नहीं मानते।'[35] इन्हीं नए प्रयोगों और संवेदन के तहत जब जनवरी 67 के अंक में कृष्णा सोबती की कहानी 'यारों के यार' छपी तो कहानी में इस्तेमाल की जाने वाली गालियों को लेकर दो तरह की प्रतिक्रियाएं देखने को मिलीं। पाठकों के एक तबके ने कहानी की भाषा पर आपत्ति जताते हुए उसे अश्लील कहा तो दूसरे ने सराहना करते हुए साहसिक कहानी बताया। भीष्म साहनी ने इस कहानी पर बड़ी संख्या में आए पत्रों में से कुछ को अगले अंक में जगह देते हुए लिखा-'इस कहानी में भाषा का प्रयोग आज के वातावरण को चित्रित करने, लगभग सभी अधिकारों और सुविधाओं से वंचित क्लर्क समुदाय की मनः स्थिति को चित्रित करने के लिए किया गया है। न केवल क्लर्क समुदाय की मनः स्थिति को ही, बल्कि इस धांधलेबाजी को भी जिसमें पलक मारते करोड़ों के वारे-न्यारे हो जाते हैं, और मानवीय मूल्यों और यथार्थ के बीच की खाई उत्तरोत्तर चैड़ी होती जा रही है।'[36]

वैसे कृष्णा सोबती की कहानी को कहीं से भी अश्लील नहीं कहा जा सकता। उसमें सरकारी दफ्तरों और क्लर्क समुदाय की मानसिकता का सटीक बखान किया गया था। उक्त कहानी पर बहस अगले अंकों में भी जारी रही। विवाद बढ़ता देख भीष्म साहनी ने पत्रिका की ओर से एक गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें जैनेन्द्र, नेमिचंद्र जैन, लोठार लुत्से, नामवर सिंह, निर्मला जैन जैसे प्रतिष्ठित लेखकों और आलोचकों ने शिरकत की, जिसका पूरा ब्योरा अप्रैल 67 के अंक में 'चर्चा परिचर्चा: यारों के यार कहानी पर बहस' शीर्षक से प्रकाशित किया गया। गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों में से किसी ने भी

कहानी को अश्लील नहीं बताया। वैसे कहानी अथवा उपन्यास में गालियों का प्रयोग किया जाय या नहीं, यह किसी नियम-कानून का मसला नहीं है। यह तय करने का काम कहानी अथवा उपन्यास की जरूरत करती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि महज गालियों का इस्तेमाल करने से किसी रचना को अश्लील नहीं कहा जा सकता, वहीं केवल गालियों का इस्तेमाल करने के लिए आकार दी जाने वाली रचना को अश्लील अवश्य कहा जाएगा। कृष्णा सोबती की कहानी 'यारों के यार' प्रकाशित होने पर जब बवाल हुआ तो उस पर मनोहर श्याम जोशी ने टिप्पणी की थी-'यह कहानी छापी भी तो भीष्म साहनी जैसे गऊ संपादक ने!'[37] यह टिप्पणी मात्र उनके सीधे सरल व्यक्तित्व को लेकर नहीं है अपितु उनकी कहानी के प्रति क्या दृष्टि रहती थी, इस पर भी है। कुछ लोगों ने कृष्णा सोबती पर यह भी आरोप लगाया कि उन्होंने चर्चा में आने के लिए कहानी में ऐसी भाषा का प्रयोग किया है। इसे वह एक रचनाकार के अपमान के तौर पर लेते हैं। वह संपादकीय में इस तथ्य को लेकर अपनी राय रखते हैं-'कृष्णा सोबती एक सुप्रसिद्ध लेखिका हैं...और कोई भी सोचने-समझने वाला लेखक केवल भाषा के प्रयोग को अपनी रचना का ध्येय मानकर नहीं लिखता।...'[38] रचना का पाठ करने की जो विधि साहनी जी बताते हैं वह रचना के अंतर में छिपे सत्य हैं जिसे समझे बिना रचना का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। किसी भी रचना का पाठ समाज के संदर्भ में रखकर ही किया जाना चाहिए। कहानी में जिस समाज का उल्लेख किया गया है, उस समाज की भाषा, संस्कृति का यदि कहानी में उल्लेख नहीं होगा तो कहानी उस परिवेश से कट जायेगी। क्लर्क समुदाय की मानसिकता को आज किसी भी सरकारी कार्यालय में साफतौर से देख सकते हैं। जहां कार्यालय में काम करने वाली महिलाओं के प्रति किस तरह की दृष्टि रखी जाती है, किस तरह की अफवाहें उनके बारे में प्रचारित की जाती है, और कैसे वहां की आपसीबातचीत होती है। ऐसे में रचना में सभ्य सुसंस्कृत भाषा की ही मात्र कल्पना करना ठीक नहीं है। रचना का अपने परिवेश से यदि जुड़ाव नहीं होता है तो वह रचना उससे कट जाती है। भीष्म साहनी इस तथ्य को बखूबी समझ रहे थे।

'नई कहानियां' का संपादन करते हुए भीष्म साहनी जहां अनेक नए हस्ताक्षरों को सामने लाए वहीं कुछ उत्कृष्ट कहानियां भी पत्रिका के जरिए हिन्दी समाज को मिलीं। ढ़ाई साल के अपने संपादन में विशेषांकों की श्रृंखला के साथ अनेक नए स्तम्भ और लेखों की सीरीज पाठकों को उपलब्ध कराई। इस दौरान उन्हें परेशानियों का सामना भी करना पड़ा। कृष्णा सोबती की कहानी 'यारों के यार' के प्रकाशन पर खूब बहस-मुबाहिसा चला। वही डॉ. माहेश्वर की कहानी 'पेशाब' के प्रकाशन पर उन्हें न्यायालय के चक्कर तक काटने पड़े। इस कहानी पर पाठकों के बीच तो बहस नहीं हुई लेकिन दिल्ली नगरपालिका ने कहानी को अश्लील बताकर संपादक पर मुकदमा कर दिया। कहानी में यह दिखाया गया था कि गरीब परिवार का एक बच्चा रात में जागता है और अपने मां-बाप को एक-दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था देखकर बुरी तरह सहम जाता है। इस मुकदमेबाजी के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है-'हम एक के बाद एक 'पेशी' पर जाने लगे। मजिस्टेªट छोटी उम्र की एक महिला थी। कुछ हम झेंपते थे, कुछ वह झेंपती थी। पहली पेशी पर तो उसने बिना किसी बहस के तारीख आगे बढ़ा दी। दूसरी पेशी पर भी ऐसा ही हुआ, पर जब तीसरी बार महिला मजिस्ट्रेट की कचहरी में पहुंचे तो पता चला कि

नगरपालिका ने मुकदमा वापस ले लिया है। मजिस्ट्रेट वहां मौजूद ही नहीं थी।'[39] इस तरह भीष्म साहनी कलम के मजबूत सिपाही होने के साथ-साथ एक मजबूत संपादक भी थे। 'नई कहानियां' के उनके एक पृष्ठीय संपादकीय को सिलसिलेवार पढ़ने से पता चलता है कि वह हर तरह की साहित्यिक गुटबाजी और राजनैतिक जुमलेबाजी से बचते हुए पक्षधरता के नए औजारों को धार देने में लगे रहे।

[1] 'बिदा और स्वागत', 'नई कहानियां'(सम्पादन: कमलेश्वर), राजकमल प्रकाशन दिल्ली, जुलाई 1965, पृ. 4

[2] 'इत्यादि', 'नई कहानियां', संपादकीय(अवैतनिक सम्पादन: भीष्म साहनी), अगस्त 1965, पृ. 123

[3] साहनी, भीष्म, आज के अतीत, आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2015, साहनी जी लिखते हैं-'सम्पादन की बागडोर मेरे हाथ में सौंपते हुए कमलेश्वर ने यह सुझाव दिया कि वह भी पत्रिका के साथ अपना सहयोग बनाए रखना चाहेंगे और इस हेतु कमलेश्वर एक स्थायी स्तम्भ पत्रिका के लिए लिखते रहेंगे। कमलेश्वर और राकेश दोनों ही मेरे स्नेही मित्र थे और मैं दोनों का कद्रदान था, पर मैंने उनका प्रस्ताव भी मंजूर नहीं किया, मेरा इरादा सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र पत्रिका निकालने का था। मैं सबसे अधिक महत्व कहानियों को देना चाहता था, बहस को नहीं। बहस तो होनी चाहिए पर साहित्यिक कृतियों को लेकर, न कि गुटबंदियों को लेकर, आदि-आदि।...', पृ.216-217

[4] संपादक की ओर से, 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), मार्च 1967, पृ. 7

[5] साहनी, भीष्म, आज के अतीत, आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2015, पृ. 222

[6] 'नई कहानियां', अगस्त 1965, 'बिदा और स्वागत' शीर्षक में लिखते हैं-''गत दो वर्षों से 'नई कहानियां' का संपादन श्री कमलेश्वर ने जिस योग्यता और परिश्रम के साथ किया वह अपने में एक इतिहास है और उसे 'नई कहानियां' के पाठक सबसे अधिक जानते हैं। हमारी कामना थी कि कमलेश्वर जी भविष्य में भी पत्रिका का संपादन जारी रखते और अपनी सूझ-बूझ से उसकी अभिवृद्धि में योग देते रहते। किंतु वह अपने कार्यों की व्यस्तता के कारण हमारे अनुरोध का पालन न कर सके। हमें बहुत ही खेद के साथ उनका आग्रह स्वीकार करना पड़ रहा है।...''

[7] 'भीष्म साहनी: एक मुकम्मल रचनाकार', सहमत, नई दिल्ली 2015, पृ. 110

[8] कमलेश्वर, 'जो मैंने जिया' उद्धृत राय, गोपाल, 'हिंदी कहानी का इतिहास-2 (1951'1975)' राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. 529

[9] सिंह, शिवप्रसाद, 'आज की हिंदी कहानी: प्रगति और परिमिति' संकलित अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ.139

[10] 'इत्यादि', 'नई कहानियां', संपादकीय(अवैतनिक सम्पादन: भीष्म साहनी), सितम्बर 1965, पृ. 125

[11] 'इत्यादि', 'नई कहानियां', संपादकीय(अवैतनिक सम्पादन: भीष्म साहनी), सितम्बर 1965, पृ. 125

[12] 'इत्यादि', 'नई कहानियां', संपादकीय(अवैतनिक सम्पादन: भीष्म साहनी), सितम्बर 1965, पृ. 125

[13] 'संपादक की ओर से, 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अक्टूबर 1965, पृ. 127

[14] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अक्टूबर 1965, पृ. 127

[15] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अक्टूबर 1965, पृ. 127

[16] साहनी, भीष्म, 'संघर्ष, परिवर्तन और लेखकीय मानसिकता', 'अपनी बात' (निबंध संकलन), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1990, पृ. 77

[17] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(परिशिष्ट विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), जून 1966, पृ. 127

[18] साहनी, भीष्म, 'ख़त्म नहीं होती साहित्य की सार्थकता'(जुलाई 2002 में साहित्य अकादमी के महत्तर सदस्य बनाये जाने पर दिया गया वक्तव्य), नया पथ भीष्म साहनी जनशताब्दी विशेषांक(संपादक: मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चैहान),

अप्रैल-सितंबर संयुक्तांक, 2015,वर्ष: 29, अंक: 2-3, नई दिल्ली, पृ.7

[19] साहनी, भीष्म, गर्दिश के दिन, 'अपनी बात' वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1990, पृ. 26-27

[20] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(परिशिष्ट विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), जुलाई 1966, पृ. 127

[21] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(परिशिष्ट विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), जुलाई 1966, पृ. 127

[22] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(परिशिष्ट विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), जून 1966, पृ. 127

[23] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय, (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), सितम्बर 1966, पृ. 126

[24] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय, (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), सितम्बर 1966, पृ. 126

[25] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय, (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अक्टूबर 1966, पृ. 126

[26] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय, (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अक्टूबर 1966, पृ. 126

[27] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(दीपावली विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), नवम्बर 1966, पृ. 9

[28] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां' संपादकीय(दीपावली विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), नवम्बर 1966, पृ. 9

[29] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अप्रैल 1967, पृ. 7

[30] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अप्रैल 1967, पृ. 7

[31] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(हास्य व्यंग्य विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), अगस्त 1966, पृ. 159

[32] 'संपादक की ओर से', नई कहानियां, संपादकीय(दीपोत्सव विशेषांक), (सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), दिसंबर 1966, पृ. 4

[33] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), दिसम्बर 1965, पृ. 127

[34] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), दिसम्बर 1965, पृ. 127

[35] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), जनवरी 1967, पृ. 3

[36] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), फरवरी 1967, पृ. 5

[37] जोशी, मनोहरश्याम, उद्धृत मेवाड़ी, देवेंद्र, ऐसे थे भीष्म जी, बनास जन शताब्दी स्मरण (संपादक: पल्लव), जुलाई-सितंबर, 2015, वर्ष: 4, अंक: 12, नई दिल्ली, पृ.31

[38] 'संपादक की ओर से', 'नई कहानियां', संपादकीय(सौजन्य सम्पादन: भीष्म साहनी), फरवरी 1967, पृ.5

[39] 'भीष्म साहनी: एक मुकम्मल रचनाकार', सहमत, नई दिल्ली 2015, पृ. 113